वह सुखी गृहस्थ का जीवन बिता रहा था। शुभ संयोग से भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। श्रद्धालु मानव समुदाय दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ा। नन्दिनीपिता भी गया, भगवान् की धर्मदेशना सुनी। अंत:करण में प्रेरणा जगी। गाथापति आनन्द की तरह उसने भी श्रावक व्रत धारण किए।

नंदिनीपिता अपने धार्मिक जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करता गया। यों चौदह वर्ष बीत गए। ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप कर वह निवृत्ति साधना में लग गया। श्रावक प्रतिमाओं की आराधना की। अंत में बीस वर्ष की श्रावक पर्याय कर एक मास के संथारे से प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। वहाँ से मनुष्य भव करके महाविदेह से मोक्ष जाएगा।

(10) सालिहीपिता श्रावक

नगरी, वैभव, सम्पत्ति, व्रत, साधना, निवृत्ति साधना एवं संलेखना संथारा आदि का सम्पूर्ण वर्णन नवें अध्ययन के समान है। सालिहीपिता श्रमणोपासक की भार्या का नाम फाल्गुनी था। नन्दिनीपिता और सालिहीपिता दोनों श्रमणोपासकों को कोई भी उपसर्ग नहीं आया एवं समाधि से पंडितमरण प्राप्त किया। प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए, वहाँ से च्यव कर महाविदेह से मुक्तिधाम प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी श्रावक व्रतों को ग्रहण करते हैं। व्रतों की यह सूची धार्मिक व नैतिक जीवन की आचार संहिता है।

श्रमण के आचार धर्म का निरूपण अनेक आगमों में है, किन्तु गृहस्थ का आचार धर्म विस्तृत रूप से प्रस्तुत आगम में ही मिलता है। भगवान् महावीर उपासकों की साधना पर इतना ध्यान रखते थे, उन्हें समय-समय पर प्रोत्साहित करते थे और विचलित होने पर सावधान भी करते थे।

(ग) उपासकदशांगसूत्र : रचयिता तथा रचनाकाल

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् तीर्थ की स्थापना कर भव्य प्राणियों के लिए देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उन्हें उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वह देशना ही प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में द्वादशांगी रूप में प्रचलित एवं मान्य होती है।[1]

1. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ।।
आव०, नि०, 192

प्रत्येक तीर्थंकर के धर्मशासन में तीर्थ-स्थापना-काल में गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नए सिरे से रचना की जाती है, फिर भी उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में मूल भावों की समानता एवं एकरूपता होती है कारण यह कि अर्थरूप से जैनागमों को अनादि एवं अनन्त अर्थात् शाश्वत माना गया है।[1]

समय-समय पर अंगशास्त्रों का विच्छेद होने और तीर्थंकर काल में नवीन रचना के कारण आगमों को सदि-सपर्यवसित भी माना गया है।[2] इस मान्यता के अनुसार अवसर्पिणीकाल के चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना पर दी गयी देशना को उन्हें ग्यारह गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया।

भगवान् महावीर स्वामी के 11 गणधरों की 9 वाचनाएँ थीं और उनके नौ ही गण थे। 11 गणधरों में से 9 गणधर भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण से पूर्व ही सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गए थे। गणधर गौतम भगवान महावीर स्वामी की परिनिर्वाण रात्रि को ही केवलज्ञानी हुए थे और 12 वर्षों तक उन्होंने भव्यजीवों को प्रतिबोध देते हुए विचरण किया था। गौतम स्वामी के केवलज्ञानी होने पर चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ का नेतृत्व आर्य सुधर्मा स्वामी के हाथों में आ गया और भगवान् महावीर स्वामी के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार केवल 5वें गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी की ही अंगवाचना प्रचलित हुई, जो हमें उपलब्ध है।

आगमों में उल्लिखित 'भगवान् महावीर के मुखारविन्द से मैंने इस प्रकार सुना है'[3] इस वाक्य से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आगमों में जो आर्य सुधर्मास्वामी ने कहा है, वह किंचित्मात्र भी स्वकल्पित नहीं, अपितु पूर्ण रूप से वही शब्दबद्ध किया गया है, जो श्रमण भगवान् महावीर ने उपदेश देते समय अर्थ रूप में अपने श्रीमुख से कहा था।

दिगम्बर ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य, केवलज्ञान की विभूति से विभूषित, सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अर्थ रूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर भगवान् के अतिशय बुद्धि सम्पन्न एवं श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरों ने आगमों की रचना

1. नं०, सू० 58
2. नं०, सू०, 42
3. सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खाय।।
(क) उत्तरासू०, 2/1, (ख) दशवैसू०, 4/1.

की।[1] अत: स्पष्ट है कि वर्तमान आगम 5वें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा विरचित हैं।

उपासकदशांगसूत्र, जो 7वां अंग है, उसके रचयिता भी आर्य सुधर्मा स्वामी ही हैं, यह तथ्य उल्लिखित प्रमाणों से निर्विवाद रूप सिद्ध है। उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में वर्णित है कि 'चम्पा नगरी में आर्य सुधर्मा स्वामी के विराजित होने पर आर्य जम्बूस्वामी ने उनसे पूछा "हे भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने छठे अंग ज्ञाताधर्मकथासूत्र के यह भाव कहें हैं, सातवें अंग उपासकदशांगसूत्र के क्या भाव है, कृपा करके बतलाइए।"[2]

जम्बूस्वामी के इस प्रकार पूछे जाने पर आर्य सुधर्मा स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा अर्थ रूप से श्रवण किए गए उपासकदशांगसूत्र की वाचना दी[3] जो बाद में देवर्द्धिगणी क्षमा ने ईसा चतुर्थ शती में लेखबद्ध किया।

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र का रचनाकाल भी यही सिद्ध होता है। श्रुत परम्परानुसार इसका काल/समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी ठहरता है। और यदि लेखबद्ध काल माना जाये तो उपासकदशांगसूत्र का समय ईसा की चतुर्थ शती निश्चित होता है।

(घ) उपासकदशांगसूत्र की भाषा शैली

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थ रूप में कथित एवं गणधरों द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित उपासकदशांग की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है।

अर्द्धमागधी प्राकृत मुख्य रूप से प्राकृत भाषा का एक भेद है। प्राकृत की गणना मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में की गई है और इसका विकास वैदिक संस्कृत या छान्दस भाषा से माना जाता है। अत: प्राकृत की प्रकृति वैदिक भाषा से मिलती जुलती है।[4] पदरचना में भी वैदिक भाषा एवं प्राकृत में समानता दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा और प्राकृत में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे पुन: संकुचित कर देने की प्रवृत्ति समान रूप से विद्यमान है। अत: स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि

1. सर्वार्थ०, 1/20
2. उपा०, सू०, 1/21
3. वही।
4. प्रा०, भा०, सा०, आलो०, इ०, पृ० 8.

प्राकृत का विकास प्राचीन आर्य वैदिक भाषा अर्थात् छान्दस् से हुआ है, जो अपने समय में जनभाषा के रूप में बहुलतया प्रयुक्त थी। कालान्तर में लौकिक संस्कृत भाषा उक्त छान्दस् में विकसित हुई है। अत: दोनों प्राकृत एवं लौकिक संस्कृत का उद्गम स्थल एक है।

प्राकृत भाषा प्रमुखत: चार भागों में विभक्त हुई मिलती है–शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री और पैशाची। आचार्य भरत ने इसके साथ अर्द्धमागधी का भी वर्णन किया है।

जैन शास्त्रों की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत मानी गई है। आचार्य अभयदेव सूरि ने मागधी के पूर्ण लक्षण न पाए जाने के कारण इसे अर्द्धमागधी कहा है। इसमें मगाधी के रकार को लकार, सकार के स्थान पर शकार नहीं पाए जाते हैं।[1] प्राचीन आचार्यों ने मगध के अर्द्धांश में बोली जाने वाली भाषा को अर्द्धमागधी कहा है।[2] प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में कहा है कि वह शौरसेनी के बहुत निकट है अर्थात् उसमें शौरसेनी के बहुत लक्षण प्राप्त होते हैं। अत: कुछ लक्षण शौरसेनी के और कुछ मागधी के लक्षण होने से यह अर्द्धमागधी भाषा कहलाती है।[3] मुनि नथमल वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य है कि वीर निर्वाण संवत् 980 में देवर्द्धिणी क्षमाश्रमण ने आगमों को संकलित किया परन्तु उसके बाद श्रमण-श्रमणियों के महाराष्ट्र में विचरण होने के कारण उसकी भाषा पर महाराष्ट्री भाषा का अधिक प्रभाव पड़ा। अत: इसी कारण महाराष्ट्री प्राकृत अर्द्धमागधी के बहुत समीप मानी जाती है।[4] वैयाकरणों ने अर्द्धमागधी की स्वतन्त्र उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि इसके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता नहीं है। अत: इस भाषा के अपने नियम हैं, जिस प्रकार बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं को मूल माना है, वैसे ही जैनों ने अर्द्धमागधी को समस्त भाषाओं का मूल स्वीकार किया है, जिससे अन्य भाषाओं एवं बोलियों का उद्गम हुआ है।[5]

1. उपा० टीका अभयदेव सूरि, पृ० 118
2. मगहद्धविसय भासानिबद्धं अद्धमागह। नि०चू०-11/3618
3. (मुनि मधुकर) उवा०, सू०, प्रस्तावना, पृ० 16
4. 'आर्ष प्राकृत स्वरूप व विश्लेषण' लेखक मुनि नथमल
   संस्कृत प्राकृत जैन व्याकरण व कोष की परम्परा, पृ० 235, 236
5. प्रा०, सा०, इ०, स०, पृ० 18

अर्द्धमागधी भाषा की विशेषताएँ : उपासकदशांगसूत्र

पूर्व के वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा के स्वरूप एवं विशेषताओं पर विस्तार से लिखा है, परन्तु स्वतन्त्र रूप से अर्द्धमागधी भाषा पर प्रकाश नहीं डाला गया। जबकि पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों ने अर्द्धमागधी भाषा का अलग अस्तित्व स्वीकार किया और इसकी विशेषताओं का सविस्तार वर्णन किया। नेमिचन्द्र शास्त्री के अभिनव प्राकृत व्याकरण[1] तथा प्राकृत भाषा और उसके साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन नामक पुस्तक[2] में, पं० हरगोविन्द दास की **पाईअ-सद्द-महण्णवो** की प्रस्तावाना में[3] भी अर्द्धमागधी भाषा की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। ये विशेषताएँ हैं :-

1. दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त 'क' स्थान पर सर्वत्र 'ग' पाया जाता है।[4] यथा–

'आकाश'	—	आगास:[5]
श्रावक	—	सावग:[6]
लोहाकर	—	लोहागर[7]

2. अनेक स्थलों पर 'क' को 'त्' और 'य्' होता है। यथा–

कुण्डकोलिकं	—	कुण्डकोलियं[8]
समणोपासकं	—	समणोवासयं[9]

3. दो स्वरों के बीच का 'ग्' प्राय: कायम रहता है। कहीं-कहीं 'ग्' का त और य भी हो जाता है। यथा–

भगवान्	—	भगवं[10]

1. अभि०, प्रा०, व्या०, पृ० 410-417
2. प्रा०, भ०, सा०, आलो०, अ०, वही, 37
3. पा०स०म० प्रस्तावना, पृ० 39
4. प्रा०व्या०, 1/182
5. (मुनि आत्माराम) उपा०सू०, 3/134, 3/143
6. वही, उपा०सू०, 7/207
7. वही, 1/102
8. वही, 3/168
9. वही, 4/149
10. वही, 1/9-11

प्रतिगता	—	पडिगया[1]

ग को य आदेश

नगरं	—	नयरं[2]

4. दो स्वरों के बीच में आने वाले 'च् और ज्' के स्थान पर 'त् और य' बनते हैं। यथा–

वज्जरिसहनाराच	—	वज्जरिसहनाराय[3]
राजा	—	राया[4]

5. दो स्वरों के मध्यवर्ती 'त' प्राय: बना रहता है, कहीं-कहीं इसका 'य' भी हो जाता है। यथा–

उग्गतपे:	—	उग्गतवे[5]
जितशत्रु	—	जियसत्तु[6]

6. इसमें 'द' का 'द' और 'त' ही अधिकांश देखा जाता है, कहीं-कहीं 'य' भी हो जाता है। यथा–

मल्लदामेणं	—	मल्लदाम्ना[7]
अदत्तादानं	—	अदिण्णादाणं[8]
चतुष्पद	—	चतुष्पय[9]
वेदना	—	वेयणं[10]

7. दो स्वरों के मध्य में स्थित 'प' के स्थान में प्राय: सर्वत्र 'व' ही होता है। यथा–

1. प्रा. व्या., 1/11
2. वही, 1/10
3. वही, 1/73
4. वही, 1/6
5. वही, 1/73
6. वही, 1/3
7. वही, 1/10
8. वही, 1/15
9. वही, 1/18
10. वही, 1/67

उपासक	—	उवासग[1]
पोसहोपवास	—	पोसहोववास[2]

8. स्वरों के मध्यवर्ती 'य' प्राय: वहीं रहता है। यथा–

देवानुप्रियाणाम्	—	देवाणप्पियाण[3]
कायसा	—	कायेन[4]

9. दो स्वरों के मध्यवर्ती 'व' के स्थान पर व्, त् और य् होते हैं। यथा–

गाथापति	—	गहावई[5]
अवसेसं	—	अवसेस[6]

10. यथा और यावत् शब्द के य् का लोप और ज् दोनों देखे जाते हैं। यथा–

यावज्जीवं	—	जावज्जीवाय[7]
यथासूत्रं	—	अहासुत्तं।[8]

11. 'स' 'श' और 'ष' की जगह सर्वत्र 'स' पाया जाता है। यथा–

शरीरा	—	सरीरा[9]
पोषहशाला	—	पोसहसाला[10]

12. गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, गिह शब्द प्रयुक्त होते हैं। यथा–

गृहम्	—	गिहि
गृहम्	—	घरं

इस प्रकार अर्द्धमागधी प्राकृत की अपनी महत्त तथा स्थान है जिसमें प्रचुर साहित्य की रचना मिलती है जो मुमुक्षुओं को अधिकाधिक उपादेय हैं।

1. प्रा. व्या., 1/67
2. वही, 1/51
3. वही, 1/12
4. वही, 1/13
5. वही, 1/3
6. वही, 1/22
7. वही, 1/13
8. वही, 1/67
9. वही, 1/10
10. वही, 1/63

(ङ) उपासकदशांगसूत्र : टीकानुटीकाएँ

विभिन्न मनीषि विद्वानों, आचार्यों एवं मूर्धन्य लेखकों द्वारा जैन आगम साहित्य को जीवन्त रखने के लिए अपने गहन चिन्तन-मनन तथा अनेक दृष्टिकोणों एवं मन्तव्यों से परिपुष्ट कर समय-समय पर संवर्द्धित किया गया है। जिसके परिणाम-स्वरूप उपासकदशांगसूत्र की वैशिष्ट्य सम्पन्न टीकाएँ, अनुटीकाएँ, भाष्य, विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के सटिप्पण अनुवाद सूरत, बम्बई, अहमदाबाद, लुधियाना, आगरा, पूना, ब्यावर एवं जर्मन इत्यादि स्थलों से प्रकाशित हैं तथा उपलब्ध होते हैं जिन्हें निम्न प्रकार से रखा जा सकता है–

1. उपासकदशांगसूत्र

आचार्य अभयदेवसूरि (10वीं सदी) ने सर्वप्रथम उपासकदशांगसूत्र पर विवरणयुक्त संस्कृत टीका लिखी जो **श्रीमद् उपासकदशांगसूत्रम्** के नाम से प्रख्यात है। प्राचीन होने से प्रकृत आगमसूत्र का मूलपाठ ही सर्वाधिक मान्य है। यह आगमग्रन्थ मूल संस्कृत व्याख्या के साथ प्रकाशित अंग्रेजी तथा गुजराती भाषा में अनुवाद सहित उपलब्ध होता है।

2. उपासकदशांगसूत्र

जैनशास्त्राचार्य पूज्य श्री घासीलाल जी म० ने **'उपासकदशांगसूत्रम्'** इस नाम से मूल संस्कृत छायावृत्ति के साथ इस आगम ग्रंथ को प्रकाशित कराया है, जो बड़ा ही उपादेय है। कारण यह है कि इसमें आचार्य जी के द्वारा लिखित हिन्दी व्याख्या के साथ ही गुजराती अुनवाद भी दिया गया है। इसकी वृत्ति में अनेक परिभाषिक शब्दों के विस्तृत व्याख्यात्मक टिप्पण भी दिए गये हैं। मनोज्ञ भाषा एवं शैली की दृष्टि से ग्रंथ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है।

3. उपासकदशांगसूत्र

पाश्चात्य विद्वान् डॉ० एम०ए० रूडोल्फ हार्नले ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ उपासकदशांग का सुन्दर सम्पादन किया है। आंग्ल भाषी विद्वानों एवं शोध मुमुक्षुओं के लिए यह संस्करण बड़ा ही उपादेय सिद्ध है।

4. उपासकदशांगसूत्र

प्राच्यविद्याविद् प्रोफेसर पी०एल० वैद्य ने पूना से उपासकदशांगसूत्र को हिन्दी

अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। सुन्दर टिप्पणियों से ग्रंथ की महत्ता और भी बढ़ गई है।

5. उपासकदशांगसूत्र

पण्डित भगवानदास हर्षचन्द्र द्वारा आचार्य अभयदेव सूरि कृत संस्कृत विवरण (टीका) के साथ उपासकदशांगसूत्र को सानुवाद सम्पादित एवं प्रकाशित किया गया है। इस संस्करण की अन्य विशेषता यह है कि इसके मूल में वण्णओं की जगह वणओं व वहिया की जगह 'वहियो' पद प्रयुक्त हुआ मिलता है।

6. उपासकदशांगसूत्र

जैनधर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्माराज जी म० द्वारा सम्पादित उपासकदशांगसूत्र मूलपाठ, संस्कृत छाया एवं अन्वयार्थ के साथ लुधियाना से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद और विस्तृत व्याख्या इसकी विशेषता है। साथ ही इसकी अन्यतम विशेषता इसकी उपयोगी भूमिका है, जो समग्र जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों पर यथार्थ प्रकाश डालती है। भाषा अत्यन्त सरस एवं सुबोध्य है।

7. उपासकदशांगसूत्र

श्री घीसूलाल पितलिया द्वारा श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना से प्रकाशित उपासकदशांगसूत्र को हिन्दी अनुवाद तथा संस्कृत विवेचन के साथ सम्पादित किया गया है। ग्रंथ की अनुवाद एवं विवेचन शैली सुन्दर एवं मनोज्ञ है।

8. अंग सुत्ताणि-उपासकदशांगसूत्र

तेरापन्थ सम्प्रदाय के आचार्य तुलसी एवं मुनि नथमल जी द्वारा सम्पादित अंगसुताणि के तृतीय भाग में उपासकदशांगसूत्र का प्रकाशन किया गया है। प्रकाशित रचना की अपनी विशेषता है। उपयोगी विभिन्न पाठान्तर टिप्पण बड़े लाभकारी हैं।

9. उपासकदशांगसूत्र

देवनागरीलिपी तथा गुजराती भाषा में अनुवादित तथा सम्पादित उपासकदशांगसूत्र के प्रकाशक डॉ० जीवराज धोलाभाई दोशी हैं।

10. उपासकदशांगसूत्र

पण्डित मुनि श्री अमोलक ऋषि जी म० द्वारा सम्पादित ग्रंथ उपासकदशांगसूत्र का उपयोगी प्रकाशन किया गया हैं। सरस एवं सरल भाषा तथा सुबोध शैली कुशल सम्पादन को अभिव्यक्त करती हैं।

11. उवासगदसाओ

उवासगदसाओ के सम्पादक तथा अनुवादक भी मधुकर मुनि जी म० हैं। यह संस्करण मूलपाठ, अनुवाद, विवेचन तथा विशिष्ट टिप्पण नोट के साथ प्रकाशित किया गया है। परिशिष्ट में उपलब्ध उपादेय विषय वस्तु अधिक महत्त्वपूर्ण है। डॉ० छगनलाल शास्त्री जी द्वारा लिखित उपयोगी प्रस्तावना से प्रकृत ग्रंथ की महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है।

(च) उपासकदशांगसूत्र का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

जैनदर्शन का चरमलक्ष्य परमतत्त्व की उपलब्धि में, आत्मत्व की सिद्धि अथवा उसके प्रत्यक्ष बोध में निहित है जिसे श्रमण साधना के सर्वोत्कर्ष पर ही प्राप्त कर सकता है। इस श्रमण साधना, ध्यान-योग तथा चर्याविधि का जैनागमों में तथा कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रंथों में जितना अधिक गहन चिन्तन किया गया है, उतना मनन श्रावकों, सद्गृहस्थों व उपासकों के आचार-विचार पर नहीं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वतीर्थंकरों की परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने तीर्थ में चतुर्विधतीर्थ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को तुल्यबल बतलाया है। इस कारण ही वह तीर्थंकर कहलाते हैं-तीर्थं करोतीति तीर्थंकर इति।

धर्मिजन के बिना जैसे कर्म की महत्ता सिद्ध नहीं होती न धर्मो धार्मिकैर्विना, वैसे ही श्रावक-श्राविकों के अभाव में श्रमणों की ध्यान-योग साधना की भी सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि श्रमण जीवन एवं चर्या में श्रावक-श्राविकाओं ही अहम् भूमिका वैसे ही रहती है, जैसे धर्मसाधना में पहले शरीर का होना परमावश्यक है-शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। अतः धर्मरूप श्रमण साधना सिद्धि के लिए श्रावक श्राविका रूपी शरीर परमावश्यक है।

श्रावक-श्राविकाओं का आचरण कैसा होना चाहिए? श्रावकों के प्रति उनके सामान्य विशेष क्या कर्त्तव्य हैं? इत्यादि बातों की चर्चा अवश्य ही भगवान के

समवशरण में हुई होगी, जिस कारण ही उपासकदशांगसूत्र से भिन्न स्थानांगसूत्र,[1] समवायांगसूत्र,[2] भगवतीसूत्र,[3] ज्ञाताधर्म कथा सूत्र,[4] अन्तकृद्दशासूत्र,[5] विपाकसूत्र,[6] राजप्रश्नीयसूत्र,[7] उत्तराध्ययनसूत्र,[8] दशाश्रुतस्कनसूत्र[9] एवं आवश्यकसूत्र[10] में श्रावकों का उल्लेख ही नहीं अपितु उनके लिए आवश्यक पालनीय व्रतों एवं प्रतिमाओं आदि का प्रतिपादन किया गया है, जिसे धारण अनेकों सत्त्वों ने अपना कल्याण किया है।

जैन आगमों पर विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गए भाष्य, चूर्णि निर्युक्ति एवं टीका ग्रंथों में भी यथास्थान श्रावकों या सद्गृहस्थों के लिए आचरण करने योग्य नियमों, विधि विधानों का विशेष प्रतिपादन किया गया है, जिसका परवर्ती आचार्यों पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। धर्मोपासकों के सदाचरण पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही आम्नाय के अनेकों आचार्यों एवं विद्वान लेखकों ने अपनी लेखनी चलायी है। श्रावकाचार का प्रतिपादन कहीं संक्षेप में मिलता है, तो कहीं विस्तार से अधिकतर मौलिक रचनाओं की अपनी विशेषता है। प्राकृतभाषा में 33 ग्रंथ श्रावकों के आचारधर्म से सम्बद्ध लिखे हुए मिलते हैं। जबकि संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में विरचित श्रावकाचार परक ग्रंथों की यथार्थ गणना करना कठिन कार्य है। फिर भी उपलब्ध तथा मान्य आचार्यों की रचनाएँ आम्नायानुसार निम्न प्रकार हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति अपर नाम उमास्वामि, सिद्धेसन दिवाकर प्रभृति आचार्यों को दोनों आम्नायों में समान सम्मान प्राप्त है।

(अ) श्वेताम्बर आम्नाय में मान्य रचनाएँ

1. तत्त्वार्थसूत्र

जैन दर्शन में स्वीकृत तत्त्वों एवं पदार्थों का सूत्र शैली में प्रतिपादन करने वाला

1. स्था०सू०, 4/3/428, 4/3/430, 5/1/2
2. सम०सू०, 11/1
3. भग०सू०, 2/5/11
4. ज्ञाता०सू०, 5/29
5. अन्त०सू०, 6/3/7
6. विपाक सुखविपाक-1, पृ० 2
7. राज०सू०, खण्ड-2, राजा प्रदेशी अधिकार, पृ० 1/197
8. उत्तरा०सू०, 5/20
9. दशा०सू०, छठ्ठी दशा।
10. आव०सू०, छठा आवश्यक।

यह प्रथम ग्रंथ है। यह दश अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम में जीवादि तत्त्वों के माध्यम से ज्ञान के भेदाभेदों पर प्रकाश डालते हुए द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे में नरकों तथा नारकीयों, चतुर्थ में स्वर्गों तथा देवों की रचना का वर्णन है। पांचवें तथा छठे में आश्रव तत्त्व को माध्यम बनाकर कर्मवाद तथा पदार्थ विज्ञान का प्रकाश डाला गया है। सातवें से नवें अध्याय में श्रावकाचार की चर्चा मिलती है। जिसमें व्रत, अतिचार, तप तथा संलेखना विधि का वर्णन प्रमुख हैं दसवें अध्याय में केवलज्ञान अर्थात् मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

तत्त्वार्थसूत्र को दोनों सम्प्रदाय में अधिकाधिक आदर प्राप्त है, जिसका प्रमाण है इस पर लिखा गया भाष्य तथा टीका ग्रंथों का उपलब्ध होना। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के लिखने वाले स्वयं रचनाकार आचार्य उमास्वाति हैं। जिनका समय प्रथम शती से तीसरी शदी तक माना गया है। आपने 403 गाथाओं के प्रमाण वाले 'श्रावकधर्म प्रज्ञप्ति' नामक मौलिक ग्रंथ की भी रचना की है।

पूज्यपाद नाम से ख्यातिलब्ध चतुर्थ शदी के प्रौढ़ जैन वैयाकरण तथा दार्शनिक आचार्य देवनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नाम की सर्वोत्तम टीका लिखी है जिसे दिगम्बर जैन प्रथम टीका मानते हैं। इसी सर्वार्थसिद्धि टीका को लेकर सातवीं शदी के उद्भट्ट विद्वान भट्ट अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक की रचना की, जिसे राजवार्तिक से भी समझा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक के चतुर्थ अध्याय के अन्त में अनेकान्त सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन किया हुआ मिलता है। तत्त्वार्थवार्तिक पर ही आठवीं शदी के आचार्य विद्यानन्दि ने श्लोक लिखकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामक ग्रंथ की रचना की है जिसमें समस्त अन्य भारतीय षड्दर्शनों के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष में विस्तार से समझाते हुए जैनदृष्टि से उनकी मीमांसा की गयी है। इस कड़ी में श्रुतसागरसूरि की तत्त्वार्थ तात्पर्यवृत्ति भी बड़ी उपयोगी रचना है।

इतना ही नहीं, समय-समय पर गुजराती, मराठी एवं कन्नड़ आदि क्षेत्रिय भाषाओं में बाद के आचार्यों ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर अपनी दृष्टि से टीका तथा भाष्यों की रचना की है। 20वीं शदी में तत्त्वार्थसूत्र पर देवनागरी लिपी में व्याख्या लिखने वालों में श्रद्धेय पण्डित प्रवर श्री सुखलाल जी संघवी, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, पण्डित कैलाश चन्द्रशास्त्री तथा पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य तथा कानजी स्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तत्त्वार्थसूत्र मुक्तिमार्ग का विवेचन होने से मोक्षशास्त्र नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी कारण कानजी स्वामी ने अपनी रचना का नाम मोक्षशास्त्र ही रखा है। इस प्रकार श्रावकाचार परक ग्रंथों में तत्त्वार्थसूत्र की महत्ता स्वत: ही सिद्ध हो जाती है।

2. श्रावक धर्मबिन्दु प्रकरण

यह ग्रंथ धर्मबिन्दु के नाम से अधिक प्रख्यात है। इसके लेखक आचार्य हरिभद्रसूरि हैं, जिनका समय 9वीं शदी माना जाता है। धर्मबिन्दु आठ अध्यायों में विभक्त हैं। यह सूत्रात्मक रचना है। कुल 542 सूत्र हैं, जिसमें गृहस्थों तथा श्रमणों के सामान्य व विशेष आचरण करने योग्य धर्मों व नियमों का प्रतिपादन किया गया है। विशिष्ट रूप से यह कृति मार्गानुसारी के 35 गुणों पर स्पष्ट प्रकाश डालती है।

श्रावकधर्मबिन्दु प्रकरण पर मुनि चन्द्रसूरि ने 3000 श्लोक प्रमाण एक सुन्दर टीका लिखी है जिसकी हस्तलिखित प्रति वि०सं० 1181 की उपलब्ध होती है। सन् 1922 में इसका गुजराती भाषा में अनुवाद छपा है। इसके अलावा अहमदाबाद से सन् 1951 में अमृतलाल मोदी कृत हिन्दी व्याख्या के साथ भी धर्मबिन्दु का प्रकाशन किया गया है।

3. श्रावकधर्मसमास अथवा श्रावक प्रज्ञप्ति

इस ग्रंथ के लेखक भी आचार्य हरिभद्रसूरि को ही माना जाता है। इसमें 120 प्राकृत गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिसमें व्रत, अतिचार तथा 15 कर्मादानों का सरलभाषा में निरूपण किया गया है। इस पर 1548 में मानदेवसूरि ने टीका भी लिखी है, जो जेठालालशास्त्री कृत सम्पादन तथा गुजराती भाषान्तर के साथ प्रकाशित मिलती है।

4. षट्स्थान प्रकरण

इसके रचयिता जिनेश्वरसूरि हैं, जो वर्धमानसूरि के शिष्य, बुद्धिसागरसूरि के गुरु भाई तथा नवांगी वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि के गुरु थे। उन्होंने वि०सं० 1080 में हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण पर वृत्ति भी लिखी है। इस प्रकार आचार्य जिनेश्वरसूरि का समय 11वीं शदी है।

षट्स्थान प्रकरण का का अपर नाम श्रावक वक्तव्यता भी है। जैनमहाराष्ट्री प्राकृत भाषा में विरचित आर्या छन्द में निबद्ध इस ग्रंथ में 104 पद्य है। समग्र रचना छः स्थानकों में विभक्त हैं वे स्थान हैं–व्रतपरिकर्मत्व, शीलवत्व, गुणवत्व, ऋजुव्यवहार, गुरु की शुश्रुषा तथा प्रवचन कौशल्य। इसमें वर्णन आता है कि उपर्युक्त स्थानकगत गुणों से विभूषित श्रावक वा उपासक उत्कृष्ट होता है।

उक्त षड्स्थानकों के क्रमशः चार, छह, पाँच, चार, तीन और छह प्रभेद किए गए हैं। इस षट्स्थान प्रकरण पर 13वीं शदी में आचार्य जिनप्रति के शिष्य उपाध्याय

जिनपाल ने 1494 श्लोक परिमाण भाष्य लिखकर इसकी महत्ता और भी अधिक बढ़ा दी है। षट्स्थान प्रकरण की हस्तलिखित प्रति जिनदत्तसूरि जैन भण्डागार में सुरक्षित उपलब्ध है। इस प्रकार षट्स्थान प्रकरण अपने समय में ख्यातिलब्ध ग्रंथ रहा है।

5. श्राद्धनिकृत्यसूत्र

इस 14वीं सदी की रचना के लेखक आचार्य देवेन्द्रसूरि है। 28 द्वारों में विभक्त 343 गाथाओं वाला ग्रंथ हैं। जिसमें श्रावक धर्म पर गहन चिन्तन किया गया है। बाद में स्वयं देवेन्द्रसूरि ने 12830 श्लोक प्रमाण वाली विस्तृत टीका की लिखी है। यह रतलाम से दो भागों में सं० 1994-95 में प्रकाशित हुआ है।

6. श्रावकधर्मविधि

तेरहवीं शदी के उत्तरार्ध में विद्यमान आचार्य जिनेश्वरसूरि ने श्रावकधर्मविधि नामक मौलिक ग्रंथ की रचना की है। जिसमें 242 श्लोक मिलते हैं। इस पर 15133 श्लोक परिणाम वाली उपाध्याय लक्ष्मीतिलक की टीका भी उपलब्ध है।

7. श्राद्धगुणविवरण

श्रावक पद की यथार्थ निरुक्ति करते हुए जिनमण्डलगणी ने विभिन्न कथाओं के साथ 35 मार्गानुसारी गुणों का सम्यक् विवेचन अपनी कृति में किया है, जो श्राद्धगुणविवरण नाम से प्रसिद्ध है। यह 15वीं सदी की रचना है। यह रचना मुनि सोहनविजय के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है।

8. श्राद्धविधि

15वीं सदी की रचना श्राद्धविधि के रचयिता आचार्य रत्नशेखरसूरि है। आपने इस पर 676। श्लोक प्रमाण वृत्ति भी लिखी है, जो विधिकौमुदी के नाम से ख्यातिलब्ध है। श्रावकों के लिए यह कृति अधिक उपादेय है कारण कि इसमें आचार्य ने विभिन्न कथाओं के साथ उपासक के गुणकृत भेदों पर प्रकाश डालते हुए श्रावक के तीन भेद और उसके 21 गुणों का विस्तार से विवेचन किया है जो श्रावक के स्वरूप को स्पष्ट झलकाता है।

इस प्रकार अन्य अनेक प्राचीन ग्रंथ हैं, जिनमें श्रावकों के व्रतों एवं गुणों पर कथाओं के साथ विश्लेषण किया गया है। इनमें देवभद्रसूरि का कथाकोष, देवगुप्तसूरि